महर्षि सुश्रुत के गुरु दिवोदास धन्वन्तरि

(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस. आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर

डॉ. विश्वावसु गौड
असिस्टेंट प्रोफेसर,
महात्मा ज्योतिबा फुले आयुर्वेद महाविद्यालय,
हाड़ोता, चोमू, जयपुर (राजस्थान)

वर्तमान काल में उपलब्ध संहिताओं में आयुर्वेद को शाश्वत एवं अनादि माना गया है। इसके अनेक तर्क भी दिए गए हैं, लेकिन उन तर्कों को यहाँ उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वास्थ्यसंरक्षण और विकार का प्रशमन एक स्वतःसम्भूत प्रक्रिया है, जिसे कभी उत्पन्न नहीं किया जाता अपितु ज्ञात किया जाता है। इसलिए आयुर्वेद के उपदेश का जहाँ भी प्रारम्भिक निर्देश है वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है, कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके प्रजापति को प्रदान किया, प्रजापति ने यह आयुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान अश्विनीकुमारों को दिया, जिन्होंने इन्द्र को सम्पूर्ण रूप से यह ज्ञान उपदिष्ट कर दिया, लेकिन इसके बाद उपलब्ध होने वाले वर्णन में कुछ भिन्नता है तथा मतभेद भी है, जिसमें धन्वन्तरि-संप्रदाय के लोग इन्द्र से यह ज्ञान धन्वन्तरि को प्रदान करना मानते हैं, जबकि आत्रेय-संप्रदाय के लोग इस ज्ञान को इन्द्र से भरद्वाज तथा भरद्वाज से आत्रेयादि सम्पूर्ण महर्षियों को उपदिष्ट किया गया मानते हैं।

इस विषय में तर्क-वितर्क करने से कोई लाभ नहीं है, लेकिन इतना कहा जा सकता है कि इन्द्र ने भरद्वाज और धन्वन्तरि को आयुर्वेद का उपदेश दिया यह स्पष्ट है, लेकिन इन दोनों को पृथक्-पृथक् रूप से आयुर्वेद का ज्ञान दिया या एक साथ दिया, यह स्पष्ट नहीं है। इसमें यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इन्द्र से उपदेश के माध्यम से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने वाले महर्षि भरद्वाज ने आत्रेय इत्यादि महर्षियों को यह ज्ञान उपदेश के माध्यम से यथावत् संक्रान्त कर दिया। वे सभी कायचिकित्साप्रधान ग्रंथों के निर्माता एवं तदनुरूप प्रमुख रूप से कायचिकित्सा करने वाले आयुर्वेदज्ञ ही थे, जबकि स्वयं धन्वन्तरि एवं उनसे ज्ञान प्राप्त करने वाले सभी महर्षि एवं आयुर्वेदज्ञ शल्यप्रधान शास्त्रों के ज्ञाता, प्रयोक्ता एवं उपदेष्टा थे।

यह पृथक्शः विवेचनीय है, कि अष्टाङ्ग का उपदेश करने वाले इन दोनों संप्रदायों ने एक-एक अङ्ग का ही उपदेश एवं प्रचार प्रसार किया है, जिसके अनुसार आत्रेय-संप्रदाय ने 8 अङ्गों का विवेचन किया है, लेकिन उस में भी कायचिकित्सा का विवेचन प्रमुख रूप से किया है, जबकि अन्य सात अङ्गों का विवेचन अत्यल्प किया है। इसी तरह से धन्वन्तरि-संप्रदाय के विशेषज्ञों ने आठों अङ्गों का विवेचन करते हुए भी केवल शल्यशास्त्रसम्बन्धी अङ्ग का ही विशेष रूप से विवेचन किया है, अन्य सात अङ्गों का विवेचन वहाँ भी संक्षिप्त रूप में ही है।

यहाँ विवेचननीय विषय भगवान् धन्वन्तरि हैं, अतः संक्षेप में भगवान् धन्वन्तरि का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

आयुर्वेद के इतिहास के विशेषज्ञों ने चार धन्वन्तरियों का अस्तित्व स्वीकृत किया है। संभव है कि इससे भी अधिक धन्वन्तरि भारतीय इतिहास में रहे हों, ये चारों आयुर्वेद से सम्बद्ध माने गए हैं, जिनमें समुद्र से आविर्भूत भगवान् धन्वन्तरि एवं सुश्रुत इत्यादि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देने वाले भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि इन २ को ही आयुर्वेद में भगवत् स्वरूप में स्वीकृत किया जाता है, अवशिष्ट में से एक मन्त्रसमुद्भूत धन्वन्तरि एवं एक विषवैद्य धन्वन्तरि भी आयुर्वेद से सम्बद्ध रहे हैं, लेकिन उनका चिकित्सकीय स्वरूप तो स्वीकार किया जाता है, पर भगवत् स्वरूप में उनको नहीं माना जाता।

भारतवर्ष में अनेक पौराणिक गाथाएँ प्रसिद्ध हैं, इनमें देवासुरसङ्ग्राम से संबंधित गाथाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। देवताओं एवं असुरों में अनेक छोटे बड़े युद्ध हुए हैं , वे भी संक्षेप में या विस्तार से विभिन्न पुराणों में उल्लिखित हैं। वेदमर्मज्ञ विद्वान् पंडित मधुसूदन ओझा ने उनमें से १२ प्रसिद्ध युद्धों का नामतः उल्लेख किया है, जो मूलतः वेदों में उल्लिखित हैं, यथा- आडीबक, कोलाहल, हालाहल एवं जलधिमन्थन (समुद्रमन्थन) ये चार और भी अधिक भयङ्कर युद्ध थे। इनके अतिरिक्त अन्य आठ भी बड़े युद्ध थे, जिन्हें महासङ्ग्राम कहा गया है। ये हैं-

त्रैपुर, मान्धक, तारकासुरसंग्राम, वृत्रासुरसंग्राम, ध्वजयुद्ध, बलिबन्ध, हिरण्याक्ष के साथ महासङ्ग्राम एवं भगवान् नरसिंहावतार के साथ हिरण्यकशिपु का महासङ्ग्राम ।

इन युद्धों का ओझा जी ने संक्षेप में वर्णन भी किया है । समुद्रमन्थन नाम के युद्ध को उन्होंने अमृतमन्थन एवं जलधिमन्थन भी कहा है, जिसमें उनका कहना है कि इन्द्र ने प्रह्लाद को अमृतमन्थन के समय पुनः जीत लिया और प्रह्लाद का पुत्र विरोचन तारकासुर सङ्ग्राम के समय इन्द्र के द्वारा मार दिया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कोई विशिष्ट वर्णन नहीं किया, लेकिन इसी वर्णन के क्रम में हिरण्यकशिपु के वंश का वर्णन करते हुए कहा है कि हिरण्यकशिपु का मूलस्थान आज का मुल्तान देश है । ऐसा माना जाता है कि इसके ४ वंशजों तक इसके राज्य की स्थिति बनी रही थी । सर्वप्रथम हिरण्यकशिपु फिर प्रह्लाद उसके बाद प्रह्लाद का पुत्र विरोचन और विरोचन के पुत्र बलिनामक दैत्य ने यहाँ राज्य किया। बलि के समय में यह नगर देवताओं के द्वारा नष्ट कर दिया गया। यथा-

मूलस्थानं नगरम् हिरण्यकशिपोस्तदद्य मुलतानम् ।
ब्रूते तत्र हि चतुरः पुरुषान् व्याप्यास्थितं राज्यम् ॥
आदौ हिरण्यकशिपुः प्रह्लादोऽन्यो विरोचनोऽथ बलिः।
चक्रे राज्यं तदिदं बलिसमये ध्वंसितं तु सुरैः[1] ॥ 16 ॥

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अमृतमन्थन का ओझा जी ने विशिष्ट वर्णन नहीं किया, लेकिन इसी प्रसङ्ग में आगे इतना अवश्य कहा है, कि असुरों ने ९६ कलाओं का आविष्कार किया, उसी तरह से देवताओं के द्वारा भी ६४ विद्यायें आविष्कृत की गईं। उनमें एक विद्या आकृतिपरिवर्तिनी भी थी, जिससे शरीर को विभिन्न आकृतियों में परिवर्तित किया जा सकता था, जैसे- विष्णु ने वराह के रूप में, नरसिंह के रूप में और मोहिनी के रूप में आकृतिपरिवर्तन किया, वह इसी विद्या के माध्यम से किया।

इन्हीं विषयों को परस्पर सम्बद्ध करके अनेक पुराणों में समुद्रमन्थन का विशिष्ट वर्णन किया गया है, जिसमें यह कहा गया है, कि देवताओं और असुरों में भयङ्कर युद्ध हुआ। उन्होंने सुमेरु पर्वत की तो मथानी बनाई तथा शेषनाग का रस्सी के रूप में प्रयोग किया। एक तरफ से (पूँछ की तरफ से) देवताओं ने उस शेषनाग को पकड़ा तथा दूसरी ओर (मुख की ओर) से दैत्यों ने पकड़ कर समुद्र का मन्थन किया, ऐसा वर्णन विभिन्न पुराणों में है। इस वर्णन को व्याख्याकार अनेक प्रकार से व्यावहारिक रूप में विश्लेषित भी करते हैं।

यहाँ केवल यही उल्लेखनीय है, कि इस प्रकार के महासङ्ग्राम का उल्लेख करने वाले ओझा जी ने इस युद्ध का कोई वर्णन इस प्रकार से नहीं किया तथा १४ रत्नों की उत्पत्ति का भी उल्लेख इस इन्द्रविजय नामक ग्रंथ में उनके द्वारा कहीं पर नहीं किया गया। इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना पर्याप्त है, कि अधिकांश पुराण इस बात को स्वीकार करते हैं कि समुद्रमन्थन नामक इस प्रक्रिया में या युद्ध में १४ प्रकार के रत्न आविर्भूत हुए। इन १४ रत्नों के नाम निम्नानुसार हैं, यथा-

हालाहल विष, उच्चैःश्रवा घोड़ा, ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, देवी लक्ष्मी, अप्सरा रम्भा, पारिजात, सुरा, पाञ्चजन्य शंख, चन्द्रमा, भगवान् धन्वन्तरि एवं अमृत।

कुछ पुराणों में हरिधनु की गणना की गयी है तथा भगवान् धन्वन्तरि एवं अमृतकलश का आविर्भाव एकसंख्यात्मक एवं एक साथ ही माना है। यद्यपि अमृत का कलश या कमण्डलु भगवान् धन्वन्तरि के हाथ में ही था, फिर भी कहीं कहीं दोनों का वैशिष्ट्य पृथक्- पृथक् प्रकार से स्वीकृत करके दोनों की गणना पृथक् -पृथक् रत्न के रूप में की गयी है तथा कहीं पर एक ही की गयी है।

यह स्पष्ट है कि पौराणिक काल में धन्वन्तरि की उत्पत्ति समुद्रमन्थन से मानी गयी थी और अधिकांश पुराणों में इससे सम्बन्धित वर्णन भी उपलब्ध होता है। महाभारत के आदिपर्व अध्याय १६ में कहा गया है -

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति[2]॥

अर्थात् उसके बाद जहाँ अमृत है, ऐसे श्वेत कमंडलु को धारण किए हुए शरीरधारी देव धन्वन्तरि निकले (आविर्भूत हुए)।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन विष्णुपुराण में है, थोड़ा सा शब्दों का अन्तर है। भागवतपुराण में स्कन्ध 8 के 8 वें अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि का जो वर्णन किया गया है, उसमें इन्हें विष्णु के अंश से समुत्पन्न माना है। अग्निपुराण में जो वर्णन है, वह विष्णुपुराण और महाभारत से पूर्णतः साम्य रखता है, केवल एक दो शब्दों का अन्तर है, यथा-

ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेदप्रवर्तकः।
बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः[3]॥

इस प्रकार से अन्य अनेक ग्रन्थों में भी भगवान् धन्वन्तरि के आविर्भाव का उल्लेख है। इन सभी ऐतिहासिक रचनाओं में भगवान् धन्वन्तरि के आविर्भाव का जो निर्देश किया गया है, उनमें एक बात सब में सामान्य है, वह यह है कि भगवान् धन्वन्तरि का आविर्भाव समुद्र के मन्थन से हुआ, जिसमें वे श्वेत कमण्डलु के साथ आविर्भूत हुए। इस कमण्डलु में अमृत विद्यमान था। इस अमृत से सम्बन्धित एक कथा प्रचलित है, जिसमें देव-दानवयुद्ध और उसके बाद समुद्रमन्थन का जो स्वरूप है, वह विशेष रूप से प्रचलित है।

इसी सन्दर्भ में यदि हरिवंशपुराण का प्रसङ्ग देखें तो उसमें लौकिक स्वरूप दृष्टिगत होता है, जबकि अन्य पुराणों में उल्लिखित प्रसङ्ग अलौकिक स्वरूप का है, जिसे अध्यात्मप्रधान इस देश में कभी नकारा नहीं जा सकता, सर्वदा स्वीकृत किया जाता है। हरिवंशपुराण में उल्लिखित प्रसङ्ग में भी प्राथमिक रूप से समुद्रमन्थन का ही उल्लेख है और उसी में भगवान् धन्वन्तरि की उत्पत्ति की मौलिकता निहित है, उसे भी बहुत से विद्वानों के द्वारा स्वीकृत किया जाता रहा है। इसमें जो प्रसङ्ग उपस्थापित किया गया है वह भी अलौकिक ही है, लेकिन उसे व्यावहारिकता प्रदान करने की दृष्टि से लौकिकता में परिणत कर दिया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है -

समुद्रमन्थन से अब्जदेव प्रकट हुए, जो विष्णु के अंश थे। आविर्भाव के बाद उन्होंने भगवान् विष्णु से कहा कि मेरा भी यज्ञभाग नियत कर दें, लेकिन वे ऐसा नहीं कर सके। यद्यपि अब्जदेव उन्हीं के अंश के रूप में समुद्भूत थे, पर वे विवश थे, उन्होंने कहा कि यज्ञभाग तो देवताओं के लिए नियत किया जा चुका है और तुम देवताओं के बाद प्रकट हुए हो, अतः अब यज्ञभाग नियत करना सम्भव नहीं है, लेकिन तुम ऐसा कर सकते हो कि मर्त्यलोक में लौकिक रूप से मनुष्य के रूप में जन्म लेकर अलौकिक रूप से विशिष्ट कार्य करते हुए श्रेष्ठ सिद्धियों को प्राप्त करो, इससे तुम देवत्व को प्राप्त कर सकोगे और जब देवत्व प्राप्त हो जाएगा तो तुम्हारी पूजा होने लगेगी। उन्होंने यह भी कहा कि इन सिद्धियों में आयुर्वेदस्वरूपक चिकित्सा का भी प्राधान्य होगा।

उपर्युक्त कथन के अनुरूप अब्जदेव ने पृथ्वी पर राजा धन्व के पुत्र के रूप में जन्म लिया और धन्वन्तरि कहलाए। वहाँ जन्म लेने का एक विशेष कारण यह भी था, कि राजा धन्व ने पुत्रप्राप्ति के लिए तपस्या की थी और उस से प्रसन्न होकर अब्जदेव ने यह आश्वस्त किया था, कि मैं आपके पुत्ररूप में जन्म लूँगा और इसी के परिणामस्वरूप वे धन्वन्तरि के रूप में अवतरित हुए। यथा-

पुत्रकामस्तपस्तेपे धन्वो दीर्घं महत्तदा।
ततस्तुष्टः स भगवानब्जः प्रोवाच तं नृपम्॥
यदिच्छसि वरं ब्रूहि तत्ते दास्यामि सुव्रत।
भगवन् यदि तुष्टस्त्वं पुत्रो मे ख्यातिमान् भव।
तथेति समनुज्ञाय तत्रैवान्तरधीयत॥
तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा।
काशिराजो महाराज सर्वरोगप्रणाशनः[4]॥

इस प्रकार से धन्वन्तरि का आविर्भाव दो प्रकार से माना जाता है- एक सीधा समुद्रमन्थन से और दूसरा विष्णु के अंश अब्जदेव का समुद्रमन्थन से प्रकट होना और उनके अंश के रूप में धन्वन्तरि का राजा धन्व के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लेना माना जाता है। विष्णु के अंशांश होने के कारण यह जन्म भी आविर्भाव ही माना जाता है। अतः इतिहासकारों में दो तरह के मत प्रचलित हो गए- पहला आदिदेव धन्वन्तरि के रूप में आविर्भाव और दूसरा विष्णु के अंशांश के रूप में राजा धन्व के यहाँ धन्वन्तरि का जन्मस्वरूपक आविर्भाव। मनुष्य के रूप में जन्म लेने के बाद भी इन्होंने सिद्धियाँ प्राप्त करके आदिदेव भगवान् धन्वन्तरि के अनुरूप चिकित्सा के वैशिष्ट्य को प्राप्त किया और उसी में अमृतत्व भाव को सम्पादित किया। इतिहासकार इन दोनों को पृथक्- पृथक् स्वरूप में मानते आए हैं और मानते रहेंगे।

हरिवंश पुराण के २९ वें अध्याय में में काश राजा की वंशावली का उल्लेख किया गया है, उनका यहाँ क्रम से उल्लेख किया जा रहा है, यथा-

काश, दीर्घतपा, धन्व, धन्वन्तरि, केतुमान्, भीमरथ (या भीमसेन), दिवोदास, प्रतर्दन, वत्स एवं अलर्क।

इनमें काश के पौत्र धन्व नाम के राजा हुए, जिन्होंने अब्जदेव की आराधना करके अब्जदेव को पुत्र के रूप में प्राप्त किया जो धन्वन्तरि के नाम से विख्यात हुए (यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है) । इन्होंने भरद्वाज से आयुर्वेद की विद्या को उपदेश के रूप में ग्रहण करके अपने प्रायोगिक ज्ञान से उसको और विस्तृत किया तथा उसका अष्टाङ्ग के रूप में अपने

शिष्यों को उपदेश दिया। इन्हीं धन्वन्तरि के प्रपौत्र दिवोदास हुए, जिन्होंने वाराणसी नगरी को बसाया। वे भी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, उनमें भी यह वैशिष्ट्य था, कि उन्होंने आयुर्वेदविद्या को प्राप्त किया तथा उस ज्ञान को अपने शिष्यों में वितरित किया।

सुश्रुत आदि शिष्यों ने इस ज्ञान को अपने अपने तंत्र के रूप में उपनिबद्ध करके लोक में प्रसारित किया तथा अपने उपदेष्टा गुरु काशिराज दिवोदास को भी भगवान् धन्वन्तरि के रूप में सम्बोधित किया तथा इसी रूप में प्रतिष्ठापित किया। अपने परदादा धन्वन्तरि की तरह चिकित्सा में निष्णात होने के कारण इनको भी तत्कालीन विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा धन्वन्तरि उपनाम से संबोधित किया जाने लगा तथा इन्होंने भी सहर्ष धन्वन्तरि उपनाम को धारण किया।

काशी के राजाओं की परम्परा में काश राजा के वंश में चौथी पीढ़ी में अर्थात् काश के बाद में चौथे स्थान पर धन्वन्तरि हुए तथा इन धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में अर्थात् काश राजा की सातवीं पीढ़ी में दिवोदास हुए जो दिवोदास धन्वन्तरि के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा बाद में केवल धन्वन्तरि के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। शिष्यों को शल्यप्रधान अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञान प्रदान करने वले ये ही धन्वन्तरि थे। अतः काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि को ही सुश्रुतसंहिता में केवल धन्वन्तरि के नाम से सम्बोधित किया गया है| ये ही महर्षि सुश्रुत के गुरु दिवोदास धन्वन्तरि थे।

सन्दर्भ -

1. इन्द्रविजयः, पृष्ठ २८१
2. महाभारत आदिपर्व अध्याय १६
3. अग्निपुराण तृतीय अध्याय
4. हरिवंशपुराण पर्व एक अध्याय २९

◆